

अनुसन्धानमें पूर्वाग्रहमुक्ति आवश्यक : कुछ प्रश्न और समाधान

प्राग्वृत्त

‘श्रमण’ के सम्पादकने ‘जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन’ की समीक्षामें कुछ ऐसी बातें कही हैं, जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। यद्यपि समीक्षकको समीक्षा करनेकी पूरी स्वतन्त्रता होती है, किन्तु उसे यह भी अनिवार्य है कि वह पूर्वाग्रहसे मुक्त रहकर समीक्ष्यके गुण-दोषोंका पर्यालोचन करे। यही समीक्षाकी मर्यादा है।

ज्ञातव्य है कि समीक्षित ग्रन्थके शोध-निबन्ध और अनुसन्धानपूर्ण प्रस्तावनाएँ आजसे लगभग ३९ वर्ष पूर्व (सन् १९४२ से १९७७ तक) ‘अनेकान्त’, ‘जैनसिद्धान्त-भास्कर’ आदि पत्रों तथा न्यायदीपिका, आप्तपरीक्षा आदि ग्रन्थोंमें प्रकाशित हैं। किन्तु विगत वर्षोंमें ‘श्रमण’ के सम्पादक या अन्य किसी विद्वान्ने उनपर कोई प्रतिक्रिया प्रकट नहीं की। अब उन्होंने उक्त समीक्षामें ग्रन्थके कुछ लेखोंके विषयोंपर प्रतिक्रिया व्यक्त की है। परन्तु उसमें अनुसन्धान और गहराईका नितान्त अभाव है। हमें प्रसन्नता होती, यदि वे पूर्वाग्रहसे मुक्त होकर शोध और गम्भीरताके साथ उसे प्रस्तुत करते। यहाँ उनके उठाये प्रश्नों अथवा मुद्दोंपर विचार करूँगा।

१. प्रश्न १ और उसका समाधान :

सम्पादकका प्रथम प्रश्न है कि ‘समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा आदि कृतियोंमें कुमारिल, धर्मकीर्ति आदिकी मान्यताओंका खण्डन होनेसे उसके आधारपर समन्तभद्रको ही उनका परवर्ती क्यों न माना जाये?’

स्मरण रहे कि हमने ‘कुमारिल और समन्तभद्र’ शीर्षक^१ शोध निबन्धमें सप्रमाण यह प्रकट किया है कि समन्तभद्रकी कृतियों (विशेषतया आप्तमीमांसा) का खण्डन कुमारिल और धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंमें पाया जाता है। अतएव समन्तभद्र उक्त दोनों ग्रन्थकारोंसे पूर्ववर्ती हैं, परवर्ती नहीं। यहाँ हम पुनः उसीका विचार करेंगे।

हम प्रश्नकर्तासे पूछते हैं कि वे बतायें, कुमारिल और धर्मकीर्तिकी स्वयंकी वे कौन-सी मान्यताएँ हैं जिनका समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा आदि कृतियोंमें खण्डन है? इसके समर्थनमें प्रश्नकारने एक भी उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया। इसके विपरीत दोनों ग्रन्थकारोंने समन्तभद्रकी ही आप्तमीमांसागत मान्यताओंका खण्डन किया है। यहाँ हम दोनों ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंसे कुछ उदाहरण उपस्थित करते हैं।

समन्तभद्र द्वारा अनुमानसे सर्वज्ञ-सिद्धि :

(१) जेनागमों^२ तथा कुन्दकुन्दके प्रवचनसार आदि ग्रन्थोंमें^३ सर्वज्ञका स्वरूप तो दिया गया है परंतु

१. अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १२, ई० १९४५, जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परि०, पृ० ५३८, बीरसेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी-५, जून १९८०।
२. (क) सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि.....—षट्खं० ५।५।९८।
(ख) से भगवं अरिहं जिणो केवलो सव्वन्नु सव्वभावदरिसी.....सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वं भावाइं जाणमाणो पासमाणो.....
—आचारां० सू० २ श्रु० ३
३. प्रवच० सा०, १।४७, ४८, ४९, कुन्दकुन्द-भारती, फल्टन, १९७०।

अनुमानसे उसकी सिद्धि उनमें उपलब्ध नहीं होती। जैन दार्शनिकोंमें ही नहीं, भारतीय दार्शनिकोंमें भी समन्तभद्र ही ऐसे प्रथम दार्शनिक एवं तार्किक हैं, जिन्होंने आप्तमीमांसा (का० ३, ४, ५, ६, ७) में अनुमानसे सामान्य तथा विशेष सर्वज्ञकी सिद्धि की है।

समन्तभद्रने सर्वप्रथम कहा कि 'सभी तीर्थ-प्रवर्तकों (सर्वज्ञों) और उनके समयों (आगमों-उपदेशोंमें) परस्पर विरोध होनेसे सब सर्वज्ञ नहीं हैं, 'कश्चिदेव'—कोई ही (एक) गुरु (सर्वज्ञ) होना चाहिए।' 'उस एककी सिद्धि ही भूमिका बाँधते हुए उन्होंने आगे (का० ४ में) कहा कि 'किमी व्यक्तिमें दोषों और आवरणोंका विशेष अभाव (ध्वंस) हो जाता है क्योंकि उनकी तरतमता (न्यूनाधिकता) पायी जाती है, जैसे सुवर्णमें तापन, कूटन आदि साधनोंसे उसके बाह्य (कालिमा) और आभ्यन्तर (कीट) दोनों प्रकारके मलोंका अभाव हो जाता है।' इसके पश्चात् वे (का. ५ में) कहते हैं कि 'सूक्ष्मादि पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमेय हैं, जैसे अग्नि आदि।' इस अनुमानसे सामान्य सर्वज्ञकी सिद्धि की गयी है। वे विशेष सर्वज्ञकी भी सिद्धि करते हुए (का० ६ व ७ में) कहते हैं कि 'हे वीर जिन ! अर्हन् ! वह सर्वज्ञ आप ही हैं, क्योंकि आप निर्दोष हैं और निर्दोष इस कारण हैं, क्योंकि आपके वचनों (उपदेश) में युक्ति तथा आगमका विरोध नहीं है, जबकि दूसरों (एकान्तवादी आप्तों) के उपदेशोंमें युक्ति एवं आगम दोनोंका विरोध है, तब वे सर्वज्ञ कैसे कहे जा सकते हैं ?' इस प्रकार समन्तभद्रने अनुमानसे सामान्य और विशेष सर्वज्ञ की सिद्धि की है। और इसलिए अनुमान द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करना आप्तमीमांसागत समन्तभद्रकी मान्यता है।

वादिराज और शुभचन्द्रद्वारा उसका समर्थन

आज से एक हजार वर्ष पूर्व (ई० १०२५) के प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार वादिराजसूग्नि^२ भी उसे (अनुमानद्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करनेको) समन्तभद्रके देवागम (आप्तमीमांसा) की मान्यता प्रकट की है। पार्श्वनाथ-चरितमें समन्तभद्रके विस्मयावह व्यक्तित्वका उल्लेख करते हुए उन्होंने उनके देवागम द्वारा सर्वज्ञके प्रदर्शन का स्पष्ट निर्देश किया है। इसी प्रकार आ० शुभचन्द्र^३ ने भी देवागम द्वारा देव (सर्वज्ञ) के आगम (सिद्धि) को बतलाया है।

इन असन्दिग्ध प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि करना समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाकी

१. तीर्थकृतसमयानां च परस्परविरोधतः ।

सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद् गुरुः ॥३॥

दोषावरणयोर्हीनिनिश्शेषास्त्यतिशयानात् ।

क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः ॥५॥

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।

आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

—समन्तभद्र, आप्तमी०, ३, ४, ५, ६, ७ ।

२. स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।

देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥

—पार्श्वनाथचरि० १।१७

३. देवागमेन येनात्र व्यक्तो देवाऽऽगमः कृतः

—पाण्डवपु० ।

निःसन्देह अपनी मान्यता है। और उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकार भी उसे शताब्दियोंसे उनकी ही मान्यता मानते चले आ रहे हैं।

कुमारिल द्वारा खण्डन :

अब कुमारिलकी ओर दृष्टिपात करें। कुमारिलने^१ सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकारके सर्वज्ञका निषेध किया है। यह निषेध और किसीका नहीं, समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाका है। कुमारिल बड़े आवेगके साथ प्रथमतः सामान्यसर्वज्ञका खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'सभी सर्वज्ञ (तीर्थ-प्रवर्तक) परस्पर विरोधी अर्थ (वस्तुतत्त्व) के जब उपदेश करने वाले हैं और जिनके साधक हेतु समान (एक-से) हैं, तो उन सबोंमें उस एकका निर्धारण कैसे करोगे कि अमुक सर्वज्ञ है और अमुक सर्वज्ञ नहीं है?' कुमारिल उस परस्पर-विरोधको भी दिखाते हुए कहते हैं कि 'यदि सुगत सर्वज्ञ है, कपिल नहीं, तो इसमें क्या प्रमाण है और यदि दोनों सर्वज्ञ हैं, तो उनमें मतभेद कैसा।' इसके अलावा वे और कहते हैं कि 'प्रमेयत्व आदि हेतु जिस (सर्वज्ञ) के निषेधक हैं, उन हेतुओंसे कौन उस (सर्वज्ञ) की कल्पना (सिद्धि) करेगा।'

यहाँ ध्यातव्य है कि समन्तभद्रके 'परस्पर-विरोधतः' पदके स्थानमें 'विरुद्धार्थोपदेशिषु', 'सर्वेषां' की जगह 'सर्वेषु' और 'कश्चिदेव' के स्थानमें 'को नामैकः' पदोंका कुमारिलने प्रयोग किया है और जिस परस्पर विरोधकी सामान्य सूचना समन्तभद्रने की थी, उसे कुमारिलने सुगत, कपिल आदि विरोधी तत्त्वोपदेष्टाओंके नाम लेकर विशेष उल्लेखित किया है। समन्तभद्रने जो सभी तीर्थप्रवर्तकों (सुगत आदि) में परस्पर विरोध होनेके कारण 'कश्चिदेव भवेद् गुरुः' शब्दों द्वारा कोई (एक) को ही गुरु—सर्वज्ञ होनेका प्रतिपादन किया था, उस पर कुमारिलने प्रश्न करते हुए कहा कि 'जब सभी सर्वज्ञ हैं और विरुद्धार्थोपदेशी हैं तथा सबके साधन हेतु एकसे हैं, तो उन सबमेंसे 'को नामैकोऽवधार्यताम्—किस एकका अवधारण (निश्चय) करते हो?' कुमारिल का यह प्रश्न समन्तभद्रके उक्त प्रतिपादनपर ही हुआ है। और उन्होंने उस अनवधारण (सर्वज्ञके निर्णयके अभाव) को 'सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिली नेतिका प्रमा' आदि कथन द्वारा प्रकट भी किया है। यह सब आकस्मिक नहीं है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि समन्तभद्रने अपने उक्त प्रतिपादनमें किसीके प्रश्न करनेके पूर्व ही अपनी उक्त प्रतिज्ञा (कश्चिदेव भवेद्गुरुः) को आप्तमीमांसा (का० ४ और ५) में अनुमान-प्रयोगपूर्वक सिद्ध किया है^२। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। अनुमानप्रयोगमें उन्होंने 'अनुमेयत्व' हेतु दिया है जो सर्वज्ञ सामान्य-

१. सर्वज्ञेषु च भूयस्सु विरुद्धार्थोपदेशिषु ।
तुल्यहेतुषु सर्वेषु को नामैकोऽवधार्यताम् ॥
सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा ।
अथावुभावपि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥
प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च ।
सद्भाववारणे शक्तं को नु तं कल्पयिष्यति ॥

बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षितने इन कारिकाओंमें प्रथमकी दो कारिकाएँ अपने तत्त्वसंग्रह (का० ३१४८-४९) में कुमारिलके नामसे दी हैं। दूसरी कारिका विद्यानन्दने अष्टस० पृ० ५ में 'तदुक्तम्' के साथ उद्धृत की है। तीसरी कारिका मीमांसाश्लोकवार्तिक (चोदनासू०) १३२ है।

२. आप्तमी०, का० ४, ५।

का साधक है और जो किसी एकका निर्णायक नहीं है। इसीसे कुमारिलने 'तुल्यहेतुषु सर्वेषु' कह कर उसे अथवा उस जैसे प्रमेयत्व आदि हेतुओंको सर्वज्ञका अनवधारक (अनिश्चायक) कहा है। इतना ही नहीं, उन्होंने एक अन्य कारिकाके द्वारा समन्तभद्रके इस 'अनुमेयत्व' हेतुकी तीव्र आलोचना भी की है और कहा है कि जो प्रमेयत्व आदि हेतु सर्वज्ञके निषेधक हैं, उनसे सर्वज्ञकी सिद्धि कैसे की जा सकती है ?

अकलंक द्वारा उत्तर :

इसका सबल उत्तर समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके विवृतिकार अकलंकदेवने^३ दिया है। अकलंक कहते हैं कि प्रमेयत्व आदि तो अनुमेयत्व हेतुके पोषक है^४—अनुमेयत्व हेतुकी तरह प्रमेयत्व आदि सर्वज्ञके सद्भावके साधक हैं, तब कौन समझदार उन हेतुओंसे सर्वज्ञका निषेध या उसके सद्भावमें सन्देह कर सकता है।'

यह सारी स्थिति बतलाती है कि कुमारिलने समन्तभद्रका खण्डन किया है, समन्तभद्रने कुमारिलका नहीं। यदि समन्तभद्र कुमारिलके परवर्ती होते तो कुमारिलके खण्डनका उत्तर स्वयं समन्तभद्र देते अकलंकको उनका जवाब देनेका अवसर नहीं आता तथा समन्तभद्रके 'अनुमेयत्व' हेतुका समर्थन करनेका भी उन्हें मौका नहीं मिलता

(२) अनुमानसे सर्वज्ञ-सामान्यकी सिद्धि करनेके उपरान्त समन्तभद्रने अनुमानसे ही सर्वज्ञ-विशेषकी सिद्धिका भी उपन्यास करके उसे 'अर्हन्त' में पर्यवसित किया है^५। जैसा कि हम ऊपर आप्तमीमांसा कारिका ६ और ७ के द्वारा देख चुके हैं। कुमारिलने समन्तभद्रकी इस विशेष सर्वज्ञताकी सिद्धिका भी खण्डन किया है^६। अर्हन्तका नाम लिए बिना वे कहते हैं कि 'जो लोग जीव (अर्हन्त) के इन्द्रियादि निरपेक्ष एवं सूक्ष्मादि विषयक केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की कल्पना करते हैं वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि वह आगमके बिना और आगम केवलज्ञानके बिना सम्भव नहीं है और इस तरह अन्योन्याश्रय दोष होनेके कारण अरहन्तमें भी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती।'

जातव्य है कि जैन अथवा जैनेतर परम्परामें समन्तभद्रसे पूर्व किसी दार्शनिकने अनुमानसे उक्त प्रकार विशेष सर्वज्ञकी सिद्धि की हो, ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं होता। हाँ, आगमोंमें केवलज्ञानका स्वरूप अवश्य विस्तारपूर्वक मिलता है, जो आगमिक है, आनुमानिक नहीं है। समन्तभद्र ही ऐसे दार्शनिक हैं,

१. मी० श्लो० चो० सू० का० १३२।

२. 'तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्पाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा।'

—अष्टश० का० ५।

३. अकलंकके उत्तरवर्ती बौद्ध विद्वान् शान्तिरक्षितने भी कुमारिलके खण्डनका जवाब दिया है। उन्होंने लिखा है—

एवं यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः।

निहन्तु हेतवोऽशक्ताः को न तं कल्पयिष्यति ॥

—तत्त्वसं० का० ८८५।

४. आप्तमी०, का० ६, ७, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी, द्वि० सं० १९७८।

५. एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः।

सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥

नर्ते तदागमात्सिद्धचेत् न च तेनागमो विना।

—मीमांसा श्लो० ८७।

जिन्होंने अरहन्तमें अनुमानसे सर्वज्ञता (केवलज्ञान) की सिद्धि की है और उसे दोषावरणोंसे रहित, इन्द्रियादि निरपेक्ष तथा सूक्ष्मादिविषयक बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि कुमारिलने समन्तभद्रकी ही उक्त मान्यता का खण्डन किया है।

अकलंक द्वारा इसका भी सबल जवाब

इसका सबल प्रमाण यह है कि कुमारिलके उक्त खण्डनका भी जवाब अकलंकदेवने दिया है^१। उन्होंने बड़े सन्तुलित ढंगसे कहा है कि 'अनुमान द्वारा सुप्रसिद्ध केवलज्ञान (सर्वज्ञता) आगमके बिना और आगम केवलज्ञानके बिना सिद्ध नहीं होता, यह सत्य है, तथापि दोनोंमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं है, क्योंकि पुरुषातिशय (केवलज्ञान) प्रतीतिवशसे माना गया है। इन (केवलज्ञान और आगम) दोनोंमें बीज और अंकुरकी तरह अनादि प्रबन्ध (प्रवाह—सन्तान) है।'

अकलंकके इस उत्तरसे बिलकुल स्पष्ट है कि समन्तभद्रने जो अनुमानसे अरहन्तके केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की सिद्धि की थी, उसीका खण्डन कुमारिलने किया है और जिसका सयुक्तिक उत्तर अकलंकने उक्त प्रकारसे दिया है। केवलज्ञानके साथ 'अनुमानविजृम्भितम्'—'अनुमानसे सिद्ध' विशेषण लगाकर तो अकलंक (वि० सं० ७वीं शती) ने रहा-सहा सन्देह भी निराकृत कर दिया है, क्योंकि अनुमानसे सर्वज्ञविशेष (अरहन्तमें केवलज्ञान) की सिद्धि समन्तभद्रने की है। इस उल्लेख-प्रमाणसे भी प्रकट है कि कुमारिलने समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाका खण्डन किया और जिसका उत्तर समन्तभद्रसे कई शताब्दी बाद हुए अकलंकने दिया है। समन्तभद्रको कुमारिलका परवर्ती माननेपर उनका जवाब वे ही देते, अकलंकको उसका अवसर ही नहीं आता।

कुमारिल द्वारा समन्तभद्रका अनुसरण

(३) कुमारिलने समन्तभद्रका जहाँ खण्डन किया है वहाँ उनका अनुगमन भी किया है^२। विदित है जैन दर्शनमें वस्तुको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन रूप माना गया है^३। समन्तभद्रने लौकिक और आध्यात्मिक दो उदाहरणों द्वारा उसकी समर्थ पुष्टि की है^४। इन दोनों उदाहरणोंके लिए उन्होंने एक-एक

१. एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् ।

नर्ते तदागमात्सिद्धयत् न च तेन विनाऽऽगमः ॥

सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः ।

प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥—न्या० वि० का० ४१२-१३

२. मी० श्लो० वा०, पृ० ६१९ ।

३. द्रव्यं सल्लक्षणयं उत्पादव्ययधुवत्तसंजुतं ।

गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णति सव्वण्हू ॥—कुन्दकुन्द, पंचास्ति०, गा० १०

अथवा—'सद्द्रव्यलक्षणम्', उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।—उमास्वाति (गृद्धपिच्छ), त० सू० ५-२९,

३० ।

४. घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।

शोकप्रमोद-माध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥

पयोत्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधित्रतः ।

अगोरसत्रतो नोभे तस्मात्त्वं त्रयात्मकम् ॥—आ० मी०, का०, ५९, ६० ।

कारिकाका सृजन किया है। पहली (५९वीं) कारिकाके द्वारा उन्होंने प्रकट किया है कि जिस प्रकार घट, मुकुट और स्वर्णके इच्छुकोंको उनके नाश, उत्पाद और स्थितिमें क्रमशः शोक, हर्ष और माध्यस्थ्य भाव होता है और इसलिए स्वर्णवस्तु व्यय, उत्पाद और स्थिति इन तीन रूप हैं, उसी प्रकार विश्वकी सभी वस्तुएँ त्रयात्मक हैं। दूसरी (६० वीं) कारिकाके द्वारा बतलाया है कि जैसे दुग्धव्रती, दूध ही ग्रहण करता है, दही नहीं लेता और दहीका व्रत रखनेवाला दही ही लेता है, दूध नहीं लेता है तथा दूध और दही दोनोंका त्यागी दोनोंको ही ग्रहण नहीं करता और इस तरह गोरस उत्पाद, व्यय और ध्रुवता तीनोंसे युक्त है, उसी तरह अखिल विश्व (तत्त्व) त्रयात्मक है।

कुमारिलने भी समन्तभद्रकी लौकिक उदाहरण वाली कारिका (५९) के आधारपर अपनी नयी ढाई कारिकायें रची हैं और समन्तभद्रकी ही तरह उनके द्वारा वस्तुको त्रयात्मक सिद्ध किया है। उनकी इन कारिकाओंमें समन्तभद्रकी कारिका ५९ का केवल बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव ही नहीं है, अपितु उनकी शब्दावली, शैली और विचारसरणि भी उनमें समाहित है। समन्तभद्रने जिस बातको अतिसंक्षेपमें एक कारिका (५९) में कहा है, उसीको कुमारिलने ढाई कारिकाओंमें प्रतिपादन किया है। वस्तुतः विकासका भी यही सिद्धान्त है कि वह उत्तरकालमें विस्तृत होता है। इस उल्लेखसे भी स्पष्ट जाना जाता है कि समन्तभद्र पूर्ववर्ती हैं और कुमारिल परवर्ती।

वादिराज द्वारा सम्पुष्टि

इसका ज्वलन्त प्रमाण यह है कि ई० १०२५ के प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित और प्रामाणिक तर्कग्रन्थकार वादिराजसूरि^३ ने अपने न्यायविनिश्चयविवरण (भाग १, पृ० ४३९) में समन्तभद्रको आप्तमीमांसाकी उल्लिखित कारिका ५९ को और कुमारिल भट्टकी उपरि चर्चित ढाई कारिकाओंमेंसे डेढ़ कारिकाको भी 'उक्तं स्वामिसमन्तभद्रैस्तदुपजीविना भट्टेनापि' शब्दोंद्वारा उद्धृत करके कुमारिल भट्टको समन्तभद्रका उपजीवी—अनुगामी प्रकट किया है। इससे स्पष्ट है कि एक हजार वर्ष पहले भी दार्शनिक एवं साहित्यकार समन्तभद्रको पूर्ववर्ती और कुमारिल भट्टको उनका परवर्ती विद्वान् मानते थे।

समन्तभद्रका धर्मकीर्ति द्वारा खण्डन

(४) (क) अब धर्मकीर्तिको लीजिए। धर्मकीर्ति (ई० ६३५) ने भी समन्तभद्रको आप्तमीमांसाका खण्डन किया है^३। विदित है कि आप्तमीमांसा (कारिका १०४) में समन्तभद्रने स्याद्वादका लक्षण दिया

१. वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदि ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ॥
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ॥—मी० श्लो० वा०, पृ० ६१९ ।
२. "उक्तं स्वामिसमन्तभद्रैस्तदुपजीविना भट्टेनापि"—शब्दोंके साथ समन्तभद्रकी पूर्वोल्लिखित कारिका ५९ और कुमारिल भट्टकी उपयुक्त कारिकाओंमेंसे आरम्भकी डेढ़ कारिका उद्धृत है।—न्या० वि० वि०, भाग १, पृ० ४३९ ।
३. एतेनैव यत्किञ्चिदयुक्तमश्लीलमाकुलम् ।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसंभवात् ॥—प्रमाणवा० १-१८२

है^१ और लिखा है कि 'सर्वथा एकान्तके त्यागसे जो 'किञ्चित्' (कथञ्चित्) का विधान है वह स्याद्वाद है ।'

(क) धर्मकीर्तिने समन्तभद्रके इस स्याद्वाद-लक्षणकी बड़े आवेगके साथ समीक्षा की है । उनके 'किञ्चित्के विधान—स्याद्वादको अयुक्त, अश्लील और आकुल 'प्रलाप' कहा है ।'

ज्ञातव्य है कि आगमोंमें^२ 'सिया पञ्जत्ता, सिया अपञ्जत्ता', 'गोयमा ! जीवा सिय सासया, सिय असासया' जैसे निरूपणोंमें दो भंगों तथा कुन्दकुन्दके पंचास्तिकायमें^३ 'सिय अत्थि णत्थि उहयं—' इस गाथा (१४) के द्वारा गिनाये गये सात भंगोंके नाम तो पाये जाते हैं । पर स्याद्वादकी उनमें कोई परिभाषा नहीं मिलती । समन्तभद्रकी आप्तमीमांसामें ही प्रथमतः उसकी परिभाषा और विस्तृत विवेचन मिलते हैं । धर्मकीर्तिने उक्त खण्डन समन्तभद्रका ही किया है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है । धर्मकीर्तिकी 'तदप्येकान्तसम्भवात्' पद भी आकस्मिक नहीं है, जिसके द्वारा उन्होंने सर्वथा एकान्तके त्यागसे होनेवाले किञ्चित् (कथञ्चित्) के विधान—स्याद्वाद (अनेकान्त) में भी एकान्तकी सम्भावना करके उसका—अनेकान्तका खण्डन किया है ।

(ख) इसके सिवाय धर्मकीर्तिने समन्तभद्रकी उस मान्यताका भी खण्डन किया है^४, जिसे उन्होंने 'सदेव सर्वं को नेच्छेत्' (का० १५) आदि कथन द्वारा स्थापित किया है^५ । वह सान्यता है सभी वस्तुओंको सद्-असद्, एक-अनेक आदि रूपसे उभयात्मक (अनेकान्तात्मक) प्रतिपादन करना । धर्मकीर्ति इसका भी खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'सर्वको उभयरूप माननेपर उनमें कोई भेद नहीं रहेगा । फलतः जिसे 'दही खा' कहा, वह ऊँटको खानेके लिए क्यों नहीं दौड़ता ? जब सभी पदार्थ सभी रूप हैं तो उनके वाचक शब्द और बोधक ज्ञान भी भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते ।'

अकलंक द्वारा जवाब

धर्मकीर्तिके द्वारा किया गया अपने पूर्वज समन्तभद्रका यह खण्डन भी अकलंकको सह्य नहीं हुआ और उनके उपर्युक्त दोनों आक्षेपोंका जवाब बड़ी तेजस्विताके साथ उन्होंने दिया है ।^६ प्रथम आक्षेपका उत्तर

१. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किञ्चित्त्वृत्तचिद्विधिः ।

सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥—आप्तमी०, का० १०५ ।

२. भूतबली-पुष्पदन्त, षट् खं० १।१।७९ ।

३. सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।

दव्वं खु सप्तभंगं भादेसवसेण संभवदि ॥—पंचास्ति०, गा० १४ ।

४. सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।

चोदितो दधि खादेति किमुष्टं नाभिधावति ॥—प्रमाणं वा० १-१८३ ।

५. कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत् ।

तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।

असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥—देवागम, का० १४, १५ ।

६. (क) ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासि भावप्रवादम् ।

चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि सकलं नेति तत्त्वं प्रपेदे ॥

न ज्ञाता तस्य तस्मिन् न च फलमपरं ज्ञायते नापि किञ्चित् ।

इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जडधीराकुलं व्याकुलाप्तः ॥—न्या० वि० १-१६१ ।

देते हुए वे कहते हैं कि 'जो विज्ञप्ति मात्रको जानता है और लोकानुरोधसे बाह्य—परको भी स्वीकार करता है और फिर भी सबको शून्य कहता है तथा प्रतिपादन करता है कि न ज्ञाता है, न उसमें फल है और न कुछ अन्य जाना जाता है, ऐसा अश्लील, आकुल और अयुक्त प्रलाप करता है, उसे प्रमत्त (पागल), जड़बुद्धि और और विविध आकुलताओंसे घिरा हुआ समझना चाहिए।' समन्तभद्रपर किये गये धर्मकीतिके प्रथम आक्षेपका यह जवाब 'जैसेको तैसा' नीतिका पूर्णतया परिचायक है।

धर्मकीतिके दूसरे आक्षेपका भी उत्तर अकलंक उपहासपूर्वक देते हुए कहते हैं कि 'जो दही और ऊँटमें अभेदका प्रसंग देकर सभी पदार्थोंको एक हो जानेकी आपत्ति प्रकट करता है और इस तरह स्याद्वाद—अनेकान्तवादका खण्डन करता है वह पूर्वपक्ष (अनेकान्तवाद—स्याद्वाद) को न समझकर दूषक (दूषण देने-वाला) होकर भी विदूषक—दूषक नहीं है, जोकर है—उपहासका पात्र है। सुगत भी कभी मृग था और मृग भी सुगत हुआ माना जाता है तथापि सुगतको वन्दनीय और मृगको भक्षणीय कहा गया है और इस तरह पर्यायभेदसे सुगत और मृगमें वन्दनीय एवं भक्षणीयकी भेदव्यवस्था तथा चित्तसन्तानकी अपेक्षासे उनमें अभेद व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार प्रतीति बलसे—पर्याय और द्रव्यकी प्रतीतिसे सभी पदार्थोंमें भेद और अभेद दोनोंकी व्यवस्था है। अतः 'दही खा' कहे जानेपर कोई ऊँटको खानेके लिए क्यों दौड़ेगा, क्योंकि सत्—द्रव्यकी अपेक्षासे उनमें अभेद होनेपर भी पर्यायकी दृष्टिसे उनमें उसी प्रकार भेद है, जिस प्रकार सुगत और मृगमें है। अतएव 'दही खा' कहनेपर कोई दही खानेके लिए ही दौड़ेगा, क्योंकि वह भक्षणीय है और ऊँट खानेके लिए वह नहीं दौड़ेगा, क्योंकि वह अभक्षणीय है। इस तरह विश्वकी सभी वस्तुओंको उभयात्मक—अनेकान्तात्मक माननेमें कौन-सी आपत्ति या विपत्ति है अर्थात् कोई आपत्ति या विपत्ति नहीं है।

अकलंकके इन सन्तुलित एवं सबल जवाबोंसे बिलकुल असन्दिग्ध है कि समन्तभद्रकी आप्तमीमांसागत स्याद्वाद और अनेकान्तवादकी मान्यताओंका ही धर्मकीतिने खण्डन किया है और जिसका मुँहतोड़, किन्तु शालीन एवं करारा उत्तर अकलंकने दिया है। यदि समन्तभद्र धर्मकीतिके परवर्ती होते तो वे स्वयं उनका जवाब देते और उस स्थितिमें अकलंकको धर्मकीतिके उपर्युक्त आक्षेपोंका उत्तर देनेका मौका ही नहीं आता।

चालीस-पचास वर्ष पूर्व स्व० पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, स्व० पं० सुखलाल संघवी आदि कुछ विद्वानोंने समन्तभद्रको धर्मकीतिका परवर्ती होनेकी सम्भावना की थी।^१ किन्तु अब ऐसे प्रचुर प्रमाण सामने आ गये हैं, जिनके आधारपर धर्मकीति समन्तभद्रसे काफी उत्तरवर्ती (३००-४०० वर्ष पश्चात्) सिद्ध हो चुके हैं। इस विषयमें डाक्टर ए०एन० उपाध्ये एवं डा० हीरालाल जैनका शाकटायन व्याकरण पर लिखा

(ख) दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसंगादेकचोदनम् ।

पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ॥

सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।

तथापि सुगतो वंद्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥

तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितैः ।

चोदितो दधि खादेति विमुष्ट्रमभिधावति ?—न्या० वि० ३-३७३, ३७४ ।

१. न्यायकु०, द्वि० भा०, प्रस्ता०, पृ० २७, अवल० ग्रन्थत्रय०; प्राक्कथ०, पृ० ९, न्यायकु०, द्वि० भा०, पृ० १८-२०।

प्रधान सम्पादकीय द्रष्टव्य है। 'धर्मकीर्ति और समन्तभद्र' शीर्षक हमारा शोधपूर्ण लेख भी अवलोकनीय है, जिसमें उक्त विद्वानोंके हेतुओंपर विमर्श करनेके साथ ही पर्याप्त नया अनुसन्धान प्रस्तुत किया गया है। ऐसे विषयोंपर हमें उन्मुक्त दिमागसे विचार करना चाहिए और सत्यके ग्रहणमें हिचकिचाना नहीं चाहिए।

प्रश्न २ और उसका समाधान

सम्पादकने दूसरा प्रश्न उठाया है कि 'सिद्धसेनके न्यायावतार और समन्तभद्रके श्रावकाचारमें किसी पद्य (पद्य) को समान रूपसे पाये जानेपर समन्तभद्रको ही पूर्ववर्ती क्यों माना जाय ? यह भी सम्भव है कि समन्तभद्रने स्वयं उसे सिद्धसेनसे लिया हो और वह उससे परवर्ती हो ?'

सम्पादककी प्रस्तुत सम्भावना इतनी कच्ची, शिथिल और निर्जीव है कि उसे पुष्ट करने वाला एक भी प्रमाण नहीं दिया जा सकता और न स्वयं सम्पादकने ही उसे दिया है। अनुसन्धानके क्षेत्रमें यह आवश्यक है कि सम्भावनाके पोषक प्रमाण दिये जायें, तभी उसका मूल्यांकन होता है और तभी वह विद्वानों द्वारा आदृत होती है।

न्यायावतारमें समन्तभद्रके रत्नकरण्डका ही पद्य

यहाँ उसीपर विमर्श किया जाता है। ऊपर जिन समन्तभद्रकी बहुत चर्चा की गयी है, उन्हींका रचित एक श्रावकाचार है, जो सबसे प्राचीन, महत्वपूर्ण और व्यवस्थित श्रावकाचारका प्रतिपादक ग्रन्थ है। इसके आरम्भमें धर्मकी व्याख्याका उद्देश्य बतलाते हुए उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीन रूप प्रकट किया गया है। सम्यग्दर्शनका स्वरूप उन्होंने परमार्थदेव, शास्त्र और गुरुका दृढ़ एवं अमूढ़ श्रद्धान कहा है। अतएव उन्हें इन तीनोंका लक्षण बतलाना भी आवश्यक था। देवका लक्षण प्रतिपादन करनेके उपरान्त समन्तभद्रने ९वें पद्यके^२ द्वारा शास्त्रका लक्षण निरूपित किया है। यह पद्य सिद्धसेनके न्यायावतारमें भी उसके ९वें पद्यके ही रूपमें पाया जाता है।

उसपर सयुक्तिक विमर्श

अब विचारणीय है कि यह पद्य रत्नकरण्ड श्रावकाचारका मूल पद्य है या न्यायावतारका मूल पद्य है। श्रावकाचारमें यह जहाँ स्थित है वहाँ उसका होना आवश्यक और अनिवार्य है। किन्तु न्यायावतारमें जहाँ वह है वहाँ उसका होना आवश्यक एवं अनिवार्य नहीं है, क्योंकि वह पूर्वोक्त शब्द-लक्षण (का० ८)^३ के समर्थनमें अभिहित है। उसे वहाँसे हटा देनेपर ग्रन्थका अंग-भंग नहीं होता। किन्तु समन्तभद्रके श्रावकाचारसे उसे अलग कर देनेपर उसका अंग भंग हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि उक्त ९वां पद्य, जिसमें शास्त्रका लक्षण दिया गया है, श्रावकाचारका मूल है और न्यायावतारमें अपने विषय (८वें पद्यमें कथित

१. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, १२६ से १३३।

२. आप्तोपज्ञपनुल्लंघमदृष्टेष्टविरोधकम्।

तत्त्वोपदेशकृत्सार्व शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ —रत्न० श्लो० ९।

३. दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः।

तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥

शब्दलक्षण) के समर्थनके लिए उसे वहाँसे ग्रन्थकारने स्वयं लिया है या किसी उत्तरवर्तीने लिया है और जो बादको उक्त ग्रन्थका भी अंग बन गया। ध्यातव्य है कि श्रावकाचारमें आप्तके लक्षणके बाद आवश्यक तौरपर प्रतिपादनीय शब्दलक्षणका प्रतिपादक अन्य कोई पद्य नहीं है, जबकि न्यायावतारमें शब्दलक्षणका प्रतिपादक ८वां पद्य है। इस कारण भी उक्त ९वां पद्य (आप्तोपज्ञमनु०) श्रावकाचारका मूल पद्य है, जिसका वहाँ मूल रूपसे होना नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है तथा न्यायावतारमें उसका ८वें पद्यके समक्ष, मूल रूपमें होना अनावश्यक, व्यर्थ और पुनरुक्त है। अतः यही मानने योग्य एवं न्यायसंगत है कि न्यायावतारमें वह समन्तभद्रके श्रावकाचारसे लिया गया है न कि श्रावकाचारमें न्यायावतारसे उसे लिया है। अतः न्यायावतारसे श्रावकाचारमें उसे (९वें पद्यको) लेनेकी सम्भावना बिल्कुल निर्मूल एवं बेदम है।

इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें देखनेपर न्यायावतारमें धर्मकीर्ति^१ (ई० ६३५), कुमारिल (ई० ६५०)^२ और पात्रस्वामी (ई० ६ठी, ७वीं शती)^३ इन ग्रंथकारोंका अनुसरण पाया जाता है और ये तीनों ग्रन्थकार समन्तभद्रके उत्तरवर्ती हैं। तब समन्तभद्रको न्यायावतारकार सिद्धसेनका परवर्ती बतलाना केवल पक्षग्रह है। उसमें युक्ति या प्रमाण (आधार) कुछ भी नहीं है।

प्रश्न ३ और उसका समाधान

समीक्षकका तीसरा प्रश्न है कि 'न्यायशास्त्रके समग्र विकासकी प्रक्रियामें ऐसा नहीं हुआ है कि पहले जैन न्याय विकसित हुआ और फिर बौद्ध एवं ब्राह्मणोंने उसका अनुकरण किया हो।' हमें लगता है कि समीक्षकने हमारे लेखको आपाततः देखा है—उसे ध्यानसे पढ़ा ही नहीं है। उसे यदि ध्यानसे पढ़ा होता, तो वे ऐसा स्वलित और भड़काने वाला प्रश्न न उठाते। हम पुनः उनसे उसे पढ़नेका अनुरोध करेंगे। हमने 'जैन न्यायका विकास'^४ लेखमें यह लिखा है कि 'जैन न्यायका उद्गम उक्त (बौद्ध और ब्राह्मण) न्यायोंसे नहीं हुआ, अपितु दृढवाद श्रुतसे हुआ है। यह सम्भव है कि उक्त न्यायोंके साथ जैन न्याय भी फला-फूला हो। अर्थात् जैन न्यायके विकासमें ब्राह्मण न्याय और बौद्ध न्यायका विकास प्रेरक हुआ हो और उनकी विविध क्रमिक शास्त्र-रचना जैन न्यायकी क्रमिक शास्त्र-रचनामें सहायक हुई हो। समकालीनोंमें ऐसा आदान-प्रदान होना या प्रेरणा लेना स्वाभाविक है।' यहाँ हमने कहाँ लिखा कि पहले जैन न्याय विकसित हुआ और फिर बौद्ध एवं ब्राह्मणोंने उसका अनुकरण किया। हमें खेद और आश्चर्य है कि समीक्षक एक शोध-संस्थानके

१. (क) न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः।

तस्मात्प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥—प्र० वा० ३-६३।

प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधामेयविनिश्चयात्।—न्यायाव०, श्लो० १।

(ख) कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्। न्या० बि०, पृ० ११।

अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत्। —न्यायाव० श्लो० ५।

२. कुमारिलके प्रसिद्ध प्रमाणलक्षण (तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्। अदुष्टाकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥) का 'बाधवर्जितम्' विशेषण न्यायावतारके प्रमाणलक्षणमें भी 'बाधवर्जितम्' के रूपमें अनुसृत है।

३. पात्रस्वामिका 'अन्यथानुपपन्नत्वं' आदि प्रसिद्धहेतुलक्षण न्यायावतारमें 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोलक्षणमीरितम्' इस हेतुलक्षणप्रतिपादक कारिकाके द्वारा अपनाया गया है और 'ईरितम्' पदका प्रयोग कर उसकी प्रसिद्धि भी प्रतिपादित की गयी है।

४. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ७।

निदेशक होकर भी तथ्यहीन और भड़काने वाली शब्दावलीका आरोप हमपर लगा रहे हैं। जहाँ तक जैन न्यायके विकासका प्रश्न है उसमें हमने स्पष्टतया बौद्ध और ब्राह्मण न्यायके विकासको प्रेरक बतलाया है और उनकी शास्त्र-रचनाको जैन न्यायकी शास्त्र-रचनामें सहायक स्वीकार किया है। हाँ, जैन न्यायका उद्गम उनसे नहीं हुआ, अपितु दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगश्रुतसे हुआ। अपने इस कथनको सिद्धसेन (द्वात्रिंशिकाकार)^१, अकलङ्क^२, विद्यानन्द^३ और यशोविजय^४ के प्रतिपादनसे पुष्ट एवं प्रमाणित किया है। हम पाठकों, खासकर समीक्षकसे अनुरोध करेंगे कि वे उस निबन्धको गौरसे पढ़नेकी कृपा करें और सही स्थिति एवं तथ्यको अवगत करें।

प्रश्न ४ और उसका समाधान

सम्पादकने चौथे और अन्तिम मुद्देमें मेरे 'तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परा' निबन्धको लेकर लिखा है कि 'अनेक ऐसे प्रश्न हैं, जिनमें तत्त्वार्थसूत्रकार और दिगम्बर आचार्योंमें भी मतभेद है। अतः कुछ बातोंमें तत्त्वार्थसूत्रकार और अन्य श्वेताम्बर आचार्योंमें मतभेद होना इस बातका प्रमाण नहीं है कि तत्त्वार्थसूत्रकार श्वेताम्बर परम्पराके नहीं हो सकते।' अपने इस कथनके समर्थनमें कुन्दकुन्द और तत्त्वार्थसूत्रकारके नयों और गृहस्थके १२ व्रतों सम्बन्धी मतभेदको दिया है। इसी मुद्देमें हमारे लेखमें आयी कुछ बातोंका और उल्लेख किया है।

तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परापर गहरा विमर्श

इस मुद्देपर भी हम विचार करते हैं। प्रतीत होता है कि सम्पादक महोदय मतभेद और परम्पराभेद दोनोंमें कोई अन्तर नहीं मान रहे हैं, जब कि उनमें बहुत अन्तर है। वे यह तो जानते हैं कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुके बाद जैन संघ दो परम्पराओंमें विभक्त हो गया—एक दिगम्बर और दूसरी श्वेताम्बर। ये दोनों भी उप-परम्पराओंमें विभाजित हैं। किन्तु मूलतः दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो ही परम्पराएँ हैं। जो आचार्य दिगम्बरत्वका और जो श्वेताम्बरका समर्थन करते हैं वे क्रमशः दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्य कहे जाते हैं तथा उनके द्वारा निर्मित साहित्य दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य माना जाता है।

अब देखना है कि तत्त्वार्थसूत्रमें दिगम्बरत्वका समर्थन है या श्वेताम्बरत्वका। हमने उक्त निबन्धमें इसी दिशामें विचार किया है। इस निबन्धकी भूमिका बांधते हुए उसमें प्राग्वृत्तके रूपमें हमने लिखा है कि जहाँ तक हमारा ख्याल है, सबसे पहले पण्डित सुखलालजी 'प्रज्ञाचक्षु' ने तत्त्वार्थसूत्र और उसकी व्याख्याओं तथा कर्तृत्व विषयमें दो लेख लिखे थे और उनके द्वारा तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ताको तटस्थ परम्परा (न दिगम्बर, न श्वेताम्बर) का सिद्ध किया था। इसके कोई चार वर्ष बाद सन् १९३४ में उपाध्याय श्री आत्मारामजीने कतिपय श्वेताम्बर आगमोंके सूत्रोंके साथ तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंका तथोक्त समन्वय करके 'तत्त्वार्थसूत्रजैनागम-समन्वय' नामसे एक ग्रन्थ लिखा और उसमें तत्त्वार्थसूत्रको श्वेताम्बर परम्पराका ग्रन्थ प्रसिद्ध किया। जब यह ग्रन्थ पण्डित सुखलाल जीको प्राप्त हुआ, तो अपने पूर्व (तटस्थ परम्परा) के विचार-

१. द्वात्रिंशिका, १-३०, ४-१५।
२. तत्त्वार्थवा० ८।१, पृ० २९५।
३. अष्टस० पृ० २३८।
४. अष्टसह० वि० टी०, पृ० १।
५. जैन दर्शन और प्रमाणशा०, पृ० ७६।

को छोड़कर उन्होंने उसे मात्र श्वेताम्बर परम्पराका प्रकट किया तथा यह कहते हुए कि 'उमास्वाति श्वेताम्बर परम्पराके थे और उनका सभाष्य तत्त्वार्थ सचेल पक्षके श्रुतके आधार पर ही बना है।'—'वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परामें हुए, दिगम्बरमें नहीं।' निःसंकोच तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ताको श्वेताम्बर होनेका अपना निर्णय भी दे दिया है।"

इसके बाद पं० परमानन्दजी शास्त्री,¹ पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री² पं० नाथूरामजी प्रेमी³ जैसे कुछ दिगम्बर विद्वानोंने भी तत्त्वार्थसूत्रकी जांच की। इनमें प्रथमके दो विद्वानोंने उसे दिगम्बर और प्रेमीजीने यापनीय ग्रंथ प्रकट किया। हमने भी उसपर विचार करना उचित एवं आवश्यक समझा और उसीके फलस्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी मूल परम्परा खोजनेके लिए उक्त निबन्ध लिखा। अनुसन्धान करने और साधक प्रमाणोंके मिलनेपर हमने उसकी मूल परम्परा दिगम्बर बतलायी। समीक्षकने उन्हें निरस्त न कर मात्र व्याख्यान दिया है। किन्तु व्याख्यान समीक्षा नहीं कहा जा सकता, अपितु वह अपने पक्षका समर्थक कहा जायेगा।

परम्पराभेदका सूचक अन्तर

तत्त्वार्थसूत्र और कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें प्रतिपादित नयों और गृहस्थके १२ व्रतोंमें वैचारिक या विवेचन पद्धतिका अन्तर है। ऐसा मतभेद परम्पराकी भिन्नताको प्रकट नहीं करता। समन्तभद्र, जिनसेन और सोमदेवके अष्टमूलगुण भिन्न होनेपर भी वे एक ही (दिगम्बर) परम्पराके हैं। पात्रभेद एवं कालभेदसे उनमें ऐसा विचार-भेद होना सम्भव है। विद्यानन्दने अपने ग्रन्थोंमें प्रत्यभिज्ञानके दो भेद माने हैं और अकलंक, माणिक्यनन्दि आदिने उसके अनेक (दोसे ज्यादा) भेद बतलाये हैं। और ये सभी दिगम्बर आचार्य हैं। पर तत्त्वार्थसूत्र और सचेलश्रुतमें ऐसा अन्तर नहीं है। उनमें मौलिक अन्तर है, जो परम्परा भेदका सूचक है। ऐसे मौलिक अन्तरको ही हमने उक्त निबन्धमें दिखाया है। संक्षेपमें उसे यहां दिया जाता है—

तत्त्वार्थसूत्र

१. अदर्शनपरीषह, ९-९-१४
२. एक साथ १९ परीषह, ९-१७
३. तीर्थकर प्रकृतिके १६ बंधकारण, ६-२४
४. विविक्तशय्यासन तप, ९-१९
५. नाग्न्यपरीषह, ९-९
६. लौकान्तिक देवोंके ८ भेद ४-४२

सचेल श्रुत

- दंसणपरीसह, सम्मतपरीसह (उत्तरा० सू० पृ० ८)
- एक साथ बीस परीषह, उत्तरा० त०, जैना० पृ २०८
- तीर्थकर प्रकृतिके २० बंधकारण (ज्ञात० सू० ८-६४)
- संलीनता तप, (व्याख्या प्र० सू० २५।७-८)
- अचेलपरीषह (उत्तरा० सू०, पृ० ८२)
- लौकान्तिक देवोंके ९ भेद (ज्ञात०, भगवती०)

यह ऐसा मौलिक अन्तर है, जिसे श्वे० आचार्योंका मतभेद नहीं कहा जा सकता। वह तो स्पष्टतया परम्पराभेदका प्रकाशक है। नियुक्तिकार भद्रबाहु या अन्य श्वेता० आचार्योंने सचेल श्रुतका पूरा अनुगमन किया है, पर तत्त्वार्थसूत्रकारने उसका अनुगमन नहीं किया। अन्यथा सचेलश्रुत विरुद्ध उक्त प्रकारका कथन तत्त्वार्थसूत्रमें न मिलता।

१. अनेकन्त, वर्ष, ४ कि० १।
२. वही, वर्ष ४ कि० ११-१२ तथा वर्ष ५ कि० १-२।
३. जैन साहित्यका इतिहास, पृ० ५३३, द्वि. सं., १९५६।

तत्त्वार्थसूत्रमें नाग्न्यपरीषह

तत्त्वार्थसूत्रमें 'अचेलपरीषह'के स्थानपर 'नाग्न्यपरीषह' रखनेपर विचार करते हुए हमने उक्त निबंध में लिखा था^१ कि 'अचेल' शब्द जब भ्रष्ट हो गया और उसके अर्थमें भ्रान्ति होने लगी तो आ० उमास्वातिने उसके स्थानमें नग्नता—सर्वथा वस्त्ररहितता अर्थको स्पष्टतः ग्रहण करनेके लिए 'नाग्न्य' शब्दका प्रयोग किया। इसका तर्कसंगत समाधान न करके सम्पादकजी लिखते हैं कि 'डा० साहबने श्वे० आगमोंको देखा ही नहीं है। श्वे० आगमोंमें नग्नके प्राकृत रूप नग्ग या णगिणके अनेक प्रयोग देखे जाते हैं।' पर प्रश्न यह नहीं है कि आगमोंमें नग्नके प्राकृत रूप नग्ग या णगिणके प्रयोग मिलते हैं। प्रश्न यह है कि श्वे० आगमोंमें क्या 'अचेल परीषह' की स्थानापन्न 'नाग्न्य परीषह' उपलब्ध है? इस प्रश्नका उत्तर न देकर केवल उनमें 'नाग्न्य' शब्दके प्राकृत रूपों (नग्ग, णगिण) के प्रयोगोंकी बात करना और हमें श्वे० आगमोंसे अनभिज्ञ बताना न समाधान है और न शालीनता है। वस्तुतः उन्हें यह बताना चाहिए कि उनमें नाग्न्य परीषह है। किन्तु यह तथ्य है कि उनमें 'नाग्न्य परीषह' नहीं है। तत्त्वार्थसूत्रकारने ही उसे 'अचेलपरीषह'के स्थान में सर्वप्रथम अपने तत्त्वार्थसूत्रमें दिया है।

तत्त्वार्थसूत्रमें विविक्तशय्यासन तप

उक्त निबन्धमें परम्पराभेदकी सूचक तत्त्वार्थसूत्रगत एक बात कही है^२ कि तत्त्वार्थसूत्रमें श्वे० श्रुत-सम्मत संलीनता तपका ग्रहण नहीं किया, इसके विपरीत उसमें विविक्तशय्यासन तपका ग्रहण है, जो श्वे० श्रुतमें नहीं है। हरिभद्रसूरिके^३ अनुसार संलीनता तपके चार भेदोंमें परिगणित विविक्तचर्या द्वारा भी तत्त्वार्थसूत्रकारके विविक्तशय्यासनका ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि विविक्तचर्या दूसरी चीज़ है और विविक्तशय्यासन अलग चीज़ है।

सम्पादकजीने हमारे इस कथनका भी अन्धाधुन्ध समीक्षण करते हुए लिखा है कि 'डा० साहबने विविक्तचर्यामें और विविक्तशय्यासनमें भी अन्तर मान लिया है, किन्तु किस आधारपर वे इनमें अन्तर करते हैं, इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं दे पाये हैं, वस्तुतः दोनोंमें कोई अर्थभेद है ही नहीं।'

उनके इस समीक्षणपर बहुत आश्चर्य है कि जो अपनेको श्वे० आगमोंका पारंगत मानता है वह विविक्तचर्या और विविक्तशय्यासनके अर्थमें कोई भेद नहीं बतलाता है तथा दोनोंको एक ही कहता है। जैन धर्मका साधारण ज्ञाता भी यह जानता है कि चर्या गमन (चलने) को कहा गया है और शय्यासन सोने एवं बैठनेको कहते हैं। दोनोंमें दो भिन्न दिशाओंकी तरह भेद है। साधु जब ईर्ष्यासमितिसे चलता है—चर्या करता है तब वह सोता-बैठता नहीं है और जब सोता-बैठता है तब वह चलता नहीं है। वस्तुतः उनमें पूर्व और पश्चिम जैसा अन्तर है। पर सम्पादकजी अपने पक्षके समर्थनकी धुनमें उस अन्तरको नहीं देख पा रहे हैं। यहाँ विशेष ध्यातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्रकारने २२ परीषहोंमें चर्या, निषद्या और शय्या इन तीनोंको परीषहके रूपमें गिनाया है। किन्तु तपोंका विवेचन करते समय उन्होंने चर्याको तप नहीं कहा, केवल शय्या और आसन दोनोंको एक बाह्य तप बतलाया है,^४ जो उनकी सूक्ष्म सिद्धान्तज्ञताको प्रकट करता है। वास्तवमें

१. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ८३।

२. वही, पृ० ८१।

३. व्याख्याप्र० श० २५, उ० ७, सू० ८ की हरिभद्र सूरिकृत वृत्ति। तथा वही पृ० ८१।

४. त० सू०, ९-१९।

चर्या विविक्तमें नहीं हो सकती। मार्गमें जब साधु गमन करता है तो उसमें उसे मार्गजन्य कष्ट तो हो सकता है और उसे सहन करनेसे उसे परीषहजय कहा जा सकता है। किन्तु उसमें विविक्तपना नहीं हो सकता और इसलिए उन्होंने विविक्तचर्या तप नहीं बतलाया। शय्या और आसन दोनों एकान्तमें हो सकते हैं। अतएव उन्हें विविक्तशय्यासन नामसे एक तपके रूपमें बाह्य तपोंमें भी परिगणित किया गया है। सम्पादकजी सूक्ष्म विचार करेंगे, तो उनमें स्पष्टतया अर्थभेद उन्हें ज्ञात हो जायेगा। पं० सुखलालजीने चर्या और शय्यासनमें अर्थभेद स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'स्वीकार किये धर्मजीवनको पुष्ट रखनेके लिए असंग होकर भिन्न-भिन्न स्थानोंमें विहार और किसी भी एक स्थानमें नियत वास स्वीकार न करना चर्या परीषह है।'.....'आसन लगाकर बैठे हुए ऊपर यदि भयका प्रसंग आ पड़े तो उसे अकम्पित भावसे जीतना किंवा आसनसे च्युत न होना निषद्या परीषह है'.....जगहमें समभावपूर्वक शयन करना शय्या-परीषह है।' आशा है सम्पादकजी चर्या, शय्या और आसनके पण्डितजी द्वारा प्रदर्शित अर्थभेदको नहीं नकारेंगे और उनके भेदको स्वीकारेंगे।

तत्त्वार्थसूत्रमें तीर्थंकर प्रकृतिके १६ बन्धकारण

तत्त्वार्थसूत्रमें परम्पराभेदकी एक और महत्त्वपूर्ण बातको उसी निबन्धमें प्रदर्शित किया है।^२ हमने लिखा है कि श्वेताम्बर श्रुतमें तीर्थंकर प्रकृतिके २० बन्धकारण बतलाये हैं और इसमें ज्ञातृधर्मकथांगसूत्र (८-६४) तथा नियुक्तिकार भद्रबाहुकी आवश्यकनियुक्तिकी चार गाथाएँ प्रमाणरूपमें दी हैं। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें तीर्थंकर प्रकृतिके १६ ही कारण निर्दिष्ट है, जो दिगम्बर परम्पराके प्रसिद्ध आगम 'षट्-खण्डागम (३-१४) के अनुसार हैं और उनका वही क्रम तथा वे ही नाम हैं।'

इसकी भी उन्होंने समीक्षा की है। लिखा है कि 'प्रथम तो यह कि तत्त्वार्थ एक सूत्रग्रन्थ है, उसकी शैली संक्षिप्त है। दूसरे, तत्त्वार्थसूत्रकारने १६ की संख्याका निर्देश नहीं किया है, यह लिखनेके बाद तत्त्वार्थसूत्रमें सचेत श्रुतपना सिद्ध करनेके लिए पुनः लिखा है कि 'आवश्यकनियुक्त और ज्ञातृधर्मकथामें जिन बीस बोलोंका उल्लेख है उनमें जो ४ बातें अधिक हैं वे हैं—धर्मकथा, सिद्धभक्ति, स्थविरभक्ति (वात्सल्य), तपस्वी-वात्सल्य और अपूर्वज्ञानग्रहण। इनमेंसे कोई भी बात ऐसी नहीं है, जो दिगम्बर परम्पराको अस्वीकृत रही हो, इसलिए छोड़ दिया हो, यह तो मात्र उसकी संक्षिप्त शैलीका परिणाम है।'

इस सम्बन्धमें हम समीक्षकसे पूछते हैं कि ज्ञातृधर्मकथासूत्र भी सूत्रग्रन्थ है, उसमें बीस कारण क्यों गिनाये, तत्त्वार्थसूत्रकी तरह उसमें १६ ही क्यों नहीं गिनाये, क्योंकि सूत्रग्रन्थ है और सूत्रग्रन्थ होनेसे उसकी भी शैली संक्षिप्त है। तत्त्वार्थसूत्रमें १६ की संख्याका निर्देश न होनेकी तरह ज्ञातृधर्मकथासूत्रमें भी २० की संख्याका निर्देश न होनेसे क्या उसमें २० के सिवाय और भी कारणोंका समावेश है? इसका उत्तर समीक्षकके पास नहीं है। वस्तुतः तत्त्वार्थसूत्रमें सचेतश्रुतके आधारपर तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धकारण नहीं बतलाये, अन्यथा आवश्यकनियुक्तिकी तरह उसमें ज्ञातृधर्मकथासूत्रके अनुसार वे ही नाम और वे ही २० संख्यक कारण प्रतिपादित होते। किन्तु उसमें दिगम्बर परम्पराके षट्खण्डागम^३ के अनुसार वे ही नाम और उतनी ही १६ की संख्याको लिए हुए बन्धकारण निरूपित हैं। इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर

१. त० सू०, विवेचन सहित, ९-९, पृ० ३४८।

२. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परि०, पृ० ७९-८०।

३. षट्खं०, ३-४०, ४१ पुस्तक ८, पृ० ७८-७९।

श्रुतके आधारपर रचा गया है और इसलिए वह दिगम्बर परम्पराका ग्रन्थ है और उसके कर्ता दिगम्बराचार्य हैं। उत्सूत्र और उत्सूत्र लेखक श्वेताम्बर परम्पराका अनुसारी नहीं हो सकता, यह समीक्षकके लिए अवश्य चिन्त्य है।

अब रही तत्त्वार्थसूत्रमें १६ की संख्याका निर्देश न होनेकी बात। सो प्रथम तो वह कोई महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमें जिसके भी भेद प्रतिपादित हैं, उसकी संख्याका कहीं भी निर्देश नहीं है। चाहे तर्कोंके भेद हों, चाहे परीषहों आदिके भेद हों। सूत्रकारकी यह पद्धति है, जिसे सर्वत्र अपनाया गया है। अतः तत्त्वार्थसूत्रकारको तीर्थकर-प्रकृतिके बन्धकारणोंको गिनानेके बाद संख्यावाची १६ (सोलह)के पदका निर्देश अनावश्यक है। तत्संख्यक कारणोंको गिना देनेसे ही वह संख्या सुतरां फलित हो जाती है। १६ की संख्या न देनेका यह अर्थ निकालना सर्वथा गलत है कि उसके न देनेसे तत्त्वार्थसूत्रकारको २० कारण अभिप्रेत हैं और उन्होंने सिद्धभक्ति आदि उन चार बन्धकारणोंका संग्रह किया है, जिन्हें आवश्यकनिर्युक्ति और ज्ञातृधर्मकथामें २० कारणों (बोलों)के अन्तर्गत बतलाया गया है। सम्पादकजीका उससे ऐसा अर्थ निकालना नितान्त भ्रम है। उन्हें तत्त्वार्थसूत्रकी शैलीका सूक्ष्म अध्ययन करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि तीर्थकर प्रकृतिके १६ बन्धकारणोंका प्ररूपक सूत्र (त० सू० ६-२४) जिस दिगम्बर श्रुत षट्खण्डागमके आधारसे रचा गया है उसमें स्पष्टतया 'दंसणविमुज्झदाए—इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति।'—(३-४१, पुस्तक ८) इस सूत्रमें^१ तथा उसके पूर्ववर्ती सूत्र^२ (३-४०)में भी १६ की संख्याका निर्देश है। अतः षट्खण्डागमके इन दो सूत्रोंके आधारसे रचे तत्त्वार्थसूत्रके उल्लिखित (६-२४) सूत्रमें १६ की संख्याका निर्देश अनावश्यक है। उसकी अनुवृत्ति वहाँसे सुतरां हो जाती है।

सिद्धभक्ति आदि अधिक ४ बातें दिगम्बर परम्परामें स्वीकृत हैं या नहीं, यह अलग प्रश्न है। किंतु यह सत्य है कि वे तीर्थकर प्रकृतिकी अलग बन्धकारण नहीं मानी गयीं। सिद्धभक्ति कर्मध्वंसका कारण है तब वह कर्मबन्धका कारण कैसे हो सकती है। इसीसे उसे तीर्थकर प्रकृतिके बन्धकारणोंमें सम्मिलित नहीं किया। अन्य तीन बातोंमें स्थविरभक्ति और तपस्विवात्सल्यका आचार्यभक्ति एवं साधु-समाधिमें तथा अपूर्वज्ञानग्रहणका अभीक्षण-ज्ञानोपयोगमें समावेश कर लेनेसे उन्हें पृथक् ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है। समीक्षकको गम्भीरता और सूक्ष्म अनुसन्धानके साथ ही समीक्षा करनी चाहिए, ताकि नीर-भीर न्यायका अनुसरण किया जा सके और एक पक्षमें प्रवाहित होनेसे बचा जा सके।

तत्त्वार्थसूत्रमें स्त्रीपरीषह और दंश-मशकपरीषह

हमने अपने उक्त निबन्धमें दिगम्बरत्वकी समर्थक एक बात यह भी कही है कि तत्त्वार्थसूत्रमें स्त्रीपरीषह और दंशमशक इन दो परीषहोंका प्रतिपादन है, जो अचेलश्रुतके अनुकूल हैं। उसकी सचेल श्रुतके आधारसे रचना माननेपर इन दो परीषहोंकी तरह पुरुषपरीषहका भी उसमें प्रतिपादन होता, क्योंकि सचेल

१. दंसणविमुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सोलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलव्वज्जणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जघायामे तथा तवे साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्च जोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुमुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति ॥४९॥

२. तत्थ इमेहि सोलसेहि कारणेहि जीवो तित्थकरणागोदकम्मं बंधंति ॥४०॥

इन दोनों सूत्रोंमें १६ की संख्याका स्पष्ट निर्देश है।

श्रुतमें स्त्री और पुरुष दोनोंको मोक्ष स्वीकार किया गया है तथा दोनों एक-दूसरेके मोक्षमें उपद्रवकारी हैं । कोई कारण नहीं कि स्त्रीपरीषह तो अभिहित हो और पुरुषपरीषह अभिहित न हो, क्योंकि सचेल श्रुतके अनुसार उन दोनोंमें मुक्तिके प्रति कोई वैषम्य नहीं । किन्तु दिगम्बर श्रुतके अनुसार पुरुषमें वज्रवृषभनाराचसंहननत्रय है, जो मुक्तिके सहकारी कारण हैं । परन्तु स्त्रीके उनका अभाव होनेसे उसे मुक्ति संभव नहीं है और इसीसे तत्त्वार्थसूत्रमें मात्र स्त्रीपरीषहका प्रतिपादन है, पुरुषपरीषहका नहीं । इसी प्रकार दंशमशक परीषह सचेलसाधुको नहीं हो सकती—नग्न—दिगम्बर—पूर्णतया अचेल साधुको ही संभव है ।

समीक्षकने इन दोनों बातोंकी भी समीक्षा करते हुए हमसे प्रश्न किया है कि 'जो ग्रन्थ इन दो परीषहोंका उल्लेख करता हो, वह दिगम्बर परम्पराका होगा, यह कहना भी उचित नहीं है । फिर तो उन्हें श्वे० आचार्यों एवं ग्रन्थोंको दिगम्बर परम्पराका मान लेना होगा, क्योंकि उक्त दोनों परीषहोंका उल्लेख तो सभी श्वे० आचार्योंने एवं श्वे० आगमोंमें किया गया और किसी श्वे० ग्रन्थमें पुरुषपरीषहका उल्लेख नहीं है ।'

समीक्षकका यह आपादन उस समय बिल्कुल निरर्थक सिद्ध होता है जब जैन संघ एक अविभक्त संघ था और तीर्थंकर महावीरकी तरह पूर्णतया अचेल (सर्वथा वस्त्र रहित) रहता था । उसमें न एक, दो आदि वस्त्रोंका ग्रहण था और न स्त्रीमोक्षका समर्थन था । गिरि-कन्दराओं, वृक्षकोटरों, गुफाओं, पर्वतों और वनोंमें ही उसका वास था । सभी साधु अचेलपरीषहको सहते थे । आ० समन्तभद्र (२ रो-३ री शती) के अनुसार उनके कालमें भी ऋषिगण पर्वतों और उनकी गुफाओंमें रहते थे । स्वयम्भूस्तोत्रमें २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमिके तपोगिरि एवं निर्वाणगिरि ऊर्जयन्त पर्वतको 'तीर्थ-संज्ञाको वहन करनेवाला बतलाते हुए उन्होंने उसे ऋषिगणोंसे परिव्याप्त कहा है । और उनके कालमें भी वह वैसा था ।

भद्रबाहुके बाद जब संघ विभक्त हुआ तो उसमें पार्थक्यके बीज आरम्भ हो गये औ वे उत्तरोत्तर बढ़ते गये । इन बीजोंमें मुख्य वस्त्रग्रहण था । वस्त्रको स्वीकार कर लेनेपर उसकी अचेल परीषहके साथ संगति बिठानेके लिए उसके अर्थमें परिवर्तनकर उसे अल्पचेलका बोधक मान लिया गया । तथा सवस्त्र साधुकी मुक्ति मान ली गयी । फलतः सवस्त्र स्त्रीकी मुक्ति भी स्वीकार कर ली गयी । साधुओंके लिए स्त्रियों द्वारा किये जानेवाले उपद्रवोंको सहन करनेकी आवश्यकतापर बल देने हेतु संवरके साधनोंमें स्त्रीपरीषहका प्रतिपादन तो ज्यों-का-त्यों बरकरार रखा गया । किन्तु स्त्रियोंके लिए पुरुषों द्वारा किये जानेवाले उपद्रवोंको सहन करने हेतु संवरके साधनोंमें पुरुषपरीषहका प्रतिपादन सचेल श्रुतमें क्यों छोड़ दिया गया, यह वस्तुतः अनुसन्धेय एवं चिन्त्य है । अचेल श्रुतमें ऐसा कोई विकल्प नहीं है । अतः तत्त्वार्थसूत्रमें मात्र स्त्रीपरीषहका प्रतिपादन होनेसे वह अचेल श्रुतका अनुसारी है । स्त्रीमुक्ति को स्वीकार न करनेसे उसमें पुरुषपरीषहके प्रतिपादनका प्रसंग ही नहीं आता । स्त्रीपरीषह और दंशमशकपरीषह इन दो परीषहोंके उल्लेखमात्रसे ही तत्त्वार्थ सूत्र दिगम्बर ग्रन्थ नहीं है, जिससे उनका उल्लेख करने वाले सभी श्वे० आचार्यों और ग्रन्थ दिगम्बर परम्पराके ही जाने या माननेका प्रसंग आता, किन्तु उपरिनिर्दिष्ट वे अनेक बातें हैं, जो सचेल श्रुतसे विरुद्ध हैं और अचेल श्रुतके अनुकूल हैं । ये अन्य सब बातें श्वे० आचार्यों और उनके ग्रन्थोंमें नहीं हैं । इन्हीं सब बातोंसे दो परंपराओंका जन्म हुआ और महावीर तीर्थंकरसे भद्रबाहु श्रुतकेवली तक एक रूपमें चला आया जैन संघ टुकड़ोंमें बँट गया । तीव्र एवं मूलके उच्छेदक विचार-भेदके ऐसे ही परिणाम निकलते हैं ।

दंशमशकपरीषह वस्तुतः निर्वस्त्र (नग्न) साधुको ही होना सम्भव है, सवस्त्र साधुको नहीं, यह साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है । जो साधु एकाधिक कपड़ों सहित हो, उसे ढांस-मच्छर कहासे

काटेंगे, तब उस परीषद्के सहन करनेका उसके लिए प्रश्न ही नहीं उठता । सचेल श्रुतमें उसका निर्देश मात्र पूर्वपरम्पराका स्मारक भर है । उसकी सार्थकता तो अचेल श्रुतमें ही संभव है ।

अतः ये (नागन्यपरीषद्, दंशमशकपरीषद् और स्त्री-परीषद्) तीनों परीषद् तत्त्वार्थसूत्रमें पूर्ण निर्ग्रन्थ (नग्न) साधुकी दृष्टिसे अभिहित हुए हैं । अतः 'तत्त्वार्थसूत्रकी परंपरा' निबन्धमें जो तथ्य दिये गये हैं वे निबन्ध हैं और वे उसे दिगम्बर परम्पराका ग्रन्थ प्रकट करते हैं । उसमें समीक्षक द्वारा उठायी गयी आपत्तियोंमेंसे एक भी आपत्ति बाधक नहीं है, प्रत्युत वे सारहीन सिद्ध होती हैं ।

समीक्षाके अन्तमें हमें कहा गया है कि 'अपने धर्म और संप्रदायका गौरव होना अच्छी बात है, किन्तु एक विद्वान्से यह भी अपेक्षित है कि वह नीर-क्षीर विवेकसे बौद्धिक ईमानदारी पूर्वक सत्यको सत्यके रूपमें प्रकट करे । कै अच्छा होता, समीक्षक समीक्ष्य ग्रन्थकी समीक्षाके समय स्वयं भी उसका पालन करते और 'उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परामें थे और उनका सभाष्य तत्त्वार्थ सचेल पक्षके श्रुतके आधारपर ही बना है ।' 'वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परामें हुए, दिगम्बरमें नहीं ।' ऐसा कहनेवालोंके सम्बन्धमें भी कुछ लिखते और उनके सत्यकी जाँच कर दिखाते कि उसमें कहीं तक सचाई, नीर-क्षीर विवेक एवं बौद्धिक ईमानदारी है ।

उपसंहार

वास्तवमें अनुसंधानमें पूर्वाग्रहकी मुक्ति आवश्यक है । हमने उक्त निबन्धमें वे तथ्य प्रस्तुत किये हैं जो अनुसंधान करनेपर उपलब्ध हुए हैं ।

